International Research Journal of Humanities, Language and Literature
ISSN: (2394-1642)
Impact Factor 7.972 Volume 11, Issue 4, April 2024
Association of Academic Researchers and Faculties (AARF)
Website-www.aarf.asia, Email : editor@aarf.asia , editoraarf@gmail.com

हिंदी की दलित आत्मकथाएं : उनका समाज वैज्ञानिक पक्ष

Rajesh Kumar
Research Scholar (Ph.D)
Dr Shipra verma
Assistant Professor
Dr Bhimrao Ambedkar Raajkiya Mahavidya , Anaugi, kannauj

वर्ण, जाति व धर्म- आधारित सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था, पितृसत्ता और भयावह गरीबी- एक दलित स्त्री का अस्मिता संघर्ष इन तीनों समस्याओं का सामना करते हुए बहुतस्तरीय भेदभाव से गुजरती है। स्त्री की जैविक या नैसर्गिक विशेषता को सामाजिक, सांस्कृतिक व धार्मिक संस्थाओं द्वारा बड़ी आसानी से गिरफ्त में लिया गया । इसलिए उसके शोषण व उत्पीड़न का इतिहास अतिदीर्घ है। यह स्थिति तब और शोचनीय हो उठती है, जब यह स्त्री दलित भी हो। डॉक्टर अंबेडकर के प्रभाव से दलित समाज ने अशिक्षा, भूख और गरीबी से संघर्ष किया, किंतु इसी समाज में पितृसत्तात्मक मानसिकता इतने गहरे पैठी रही कि शिक्षित दलित स्त्रियों को भी इससे कठोर संघर्ष करना पड़ा। आश्चर्य है कि दलितों में जो पुरुष समाज वर्चस्ववादी जाति व्यवस्था से संघर्षरत था, वही घर के भीतर वर्चस्ववादी अहं का हिमायती बना हुआ था।

स्त्री-विमर्श के प्रथम दस्तावेज 'सीमंतनी उपदेश' से लेकर वर्तमान के समूचे स्त्री लेखन तक में धर्म, जाति, वर्ग से इतर एक स्त्री का संघर्ष उसकी अस्मिता का, मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों का संघर्ष है। दलित लेखिकाओं की रचनाएं इसे सशक्त रूप से रेखांकित कर रही हैं। शिक्षा, आर्थिक आत्मनिर्भरता के साथ-साथ पितृसत्तात्मक मानसिकता में परिवर्तन के बिना स्त्री की पूर्व निर्धारित स्थिति व भूमिका में बदलाव संभव नहीं । इस बदलाव के लिए पुरुष ही नहीं, स्त्री की मानसिकता को भी बदले जाने की आवश्यकता है, क्योंकि स्त्री की मानसिक बुनावट भी पितृसत्ता के अनुसार निर्धारित व नियंत्रित है। यह सच है कि पुरुष ही नहीं। स्त्री भी इससे आसानी से मुक्त नहीं हो पा रही है। दरअसल पितृसत्तानुसार स्थापित स्त्री की भूमिका पुरुष के लिए सुविधाजनक है। स्त्री की शिक्षा और आर्थिक योगदान उसे स्वीकार है, किंतु उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, क्योंकि स्त्री को महानता, त्याग और सेवा के जंजाल में बनाये रखने वाली सामाजिक और मानसिक संरचना का निर्माण उसके हित साधकता है। स्त्री अधिकारों का समर्थक पुरुष वर्ग बौद्धिक और तार्किक दृष्टि से इसका समर्थन करते हुए भी व्यावहारिक धरातल पर इसको बनाए रखना चाहता है।यही स्थिति दलित समाज में भी है। हिंदी के कई दलित चिंतक जिस जाति आधारित शोषण के विरुद्ध मुखर हैं, अपनी आत्मकथाओं में स्त्री के प्रति कई स्थान पर उसी वर्चस्ववादी प्रवृत्ति से ग्रस्त दिखते हैं। इन आत्मकथाओं में वर्णित स्त्री पात्रों की स्थिति बहुत कुछ बयान करती है।

© Association of Academic Researchers and Faculties (AARF)
A Monthly Double-Blind Peer Reviewed Refereed Open Access International e-Journal - Included in the International Serial Directories.

वस्तुत: भारतीय सामाजिक संरचना में दलित और स्त्री की स्थिति प्रारंभ से ही दयनीय रही है। दरिद्रता, अज्ञानता, जातिगत उत्पीड़न, अपमान और शोषण यही दलित जीवन का अटूट हिस्सा रहे तो दलित- स्त्री का जीवन इन सबके साथ पितृसत्तात्मक समाज के शोषण, धर्म- संस्कृति के नाम पर प्रचलित मान्यताओं, प्रथाओं को ढोते हुए दोहरी लाचारी, दीनता से भरत रहा। जिस तरह दलित आत्मकथाएं अपने समूचे समाज की पीड़ा, संघर्ष को उत्कृष्ट करती रही है, वैसे ही दलित स्त्रियों की रचनाएं दलित जीवन के साथ-साथ स्त्री जीवन की त्रासदियों, यंत्रणा को अभिव्यक्त करती हैं। सामाजिक, धार्मिक व्यवस्थाओं तथा अतार्किक परंपराओं, मान्यताओं व कर्मकांडों ने वर्षों तक दलित और स्त्री समाज को गुलाम बनाकर शोषण किया। सवर्ण और अवर्ण के संघर्ष में स्त्री का जीवन दोहर-

तिहरे रूप से संघर्षशील रहा। स्पष्ट है कि स्त्री की लैंगिक पहचान उसकी दलित पहचान से पहले आती है। सवर्ण स्त्रियों की अपेक्षा यह उन पर दोहरी मार थी। जीवन के ऐसे समस्त कटु अनुभवों को सर्वाधिक मराठी लेखिकाओं ने शब्दबद्ध किया। वर्तमान में हिंदी दलित लेखन में दलित स्त्रियों का कम संख्या में होना यह दर्शाता है कि स्त्रियां आज भी अशिक्षित व शोषित है। मनुस्मृति का विरोध जाति- वर्ण के आधार पर दलित लेखन में पर्याप्त हुआ, किंतु स्त्री पक्ष का स्वर मुखर नहीं हुआ। उसके लिए जाति से भी बड़ा दुर्भाग्य स्त्री होना था। फलत: आज भी उसे वह जगह नहीं मिली जहां वह पूरी तरह अपनी बात रख सके। हिंदी दलित आत्मकथा लेखन में स्त्री हस्ताक्षर अत्यंत कम है कौसल्या बसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' के बाद सुशील टाकभौरे की 'शिकंजी का दर्द' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है, जिसने परिवार, समाज, संस्कृति, लोक-लाज, मान- सम्मान की मानदंडों की लक्ष्मण रेखा को पार कर अमाावीयता व क्रूता के सभ्य कवचों को उद्घाटित किया है। " दलित स्त्री आत्मकथनों में अभिव्यक्त संदर्भ, परिवेश, समस्या और संघर्ष का स्तर बहुस्तरीय है, दलित स्त्री के जीवन में शिक्षित होने के लिए संघर्ष, जातिगत पहचान की वजह से प्रगति के हर कदम पर आने वाली कठिनाइयों से जूझना, आर्थिक सबलता के लिए कठिन प्रयास, भूख से लड़ाई, स्त्री होने के कारण घर और बाहर होने वाली अवहेलना, अपमान और शोषण की तिहरी मार को झेलने के प्रसंगों, घटनाओं, संघर्षों का चित्रण लेखिकाओं ने प्रमुख रूप से किया है। लगभग सभी आत्मकथानों में सबसे महत्वपूर्ण पहलू हैं, पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री का निरंतर शोषण, उसके अस्तित्व और अस्मिता को कुचला जाना और इसके विरोध में स्त्री का संघर्ष। दलित स्त्री मध्यवर्गीय हो अथवा निम्नवर्गीय, मजदूर हो अथवा सामाजिक कार्यकर्ता या कॉलेज में अध्यापिका, उसे दलित और स्त्री होने की पीड़ा साथ-साथ झेलनी पड़ती है। यह तथ्य सभी लेखिकाओं के यहां समान है। पूर्वजों के साथ हुए जातिगत शोषण और उत्पीड़न की वेदना की लकीरें सभी में एक समान है। अन्याय, गुलामी, दरिद्रता, वंचना ने स्त्री के जीवन को एक सी भयावहता ,दीनता, लाचारी और कुचले जाने की पीड़ा से भर दिया।"1

स्त्री-स्वतंत्रता या मुक्ति का तात्पर्य विवाह या परिवार संस्था से विरोध या मुक्त नहीं है, ना ही यह देह- मुक्ति या मात्र यौन स्वतंत्रता है। मनुष्य होने के नाते स्त्री के नैसर्गिक अधिकार उसकी स्वाभाविक मांग है, जो धर्म, जाति, समुदाय से आगे जाकर समूची स्त्री जाति की मांग है। सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक सत्ता के अवांछित निषेध से स्वीकार नहीं है। यही नहीं, स्त्री- स्वाधीनता वा मुक्ति के नाम पर आधुनिकता तथा बाजारवादी ताकतों का एक अदृश्य सत्ता के रूप में शोषण के ताने- बाने बुनना स्त्री-दह व मस्तिष्क पर नए तरह का वर्चस्व ही है, इसे समझा जा रहा है। दलित स्त्री का संघर्ष धर्म, जात, पितृसत्ता आर्थिक मोर्चे के साथ ही अंधविश्वासों से भी है, जहां उसे अशुभ या डायन तक घोषित कर दिया जाता है।

कई दलित चिंतकों का दावा है कि दलित समाज में स्त्री अधिक स्वतंत्रचेता, आत्मनिर्भर और संस्थागत दबावों से मुक्त है। इस दावे के परिप्रेक्ष्य में दलित आत्मकथाओं से साक्षात्कार करने पर स्थित कुछ भिन्न ही नजर आती है। हिंदी दलित आत्मकथाओं पर दृष्टिपात करने से पूर्व फरवरी, 1882 में प्रकाश में आयी 'एक अज्ञात हिंदू औरत' द्वारा रचित और लुधियाना के मुंशी कन्हैयालाल द्वारा प्रकाशित 'सीमंतनी उपदेश' पर विचार किया जाना उचित होगा। यह एक ऐसी स्त्री द्वारा रचित कृति है, जो स्त्री को धर्म, जाति, नस्ल, वर्ग आदि में विभाजित करके देखने की अपेक्षा स्त्री रूप में ही देखे जाने को उचित मानते हुए सवर्ण और दलित के भेदभाव को खारिज कर देती है। इसलिए यह रचना समूची स्त्री जाति पर निष्पक्ष रूप से विचार करती है। सन 1988 में दलित विचारक डॉक्टर धर्मवीर ने इसे संपादित व पुनर्प्रकाशित कराया है। इस पुस्तक में इस अज्ञात लेखिका ने स्त्री मुक्ति पर तार्किक रूप से विचार करते हुए स्त्री के अस्तित्व को विस्तृत संदर्भ में समझाने का प्रयास किया। इसलिए कई विचारक इसे स्त्री अस्मिता की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण मानते हैं। स्त्री पुरुष सामान्य, रूढ़ियों का विरोध, विधवा पुनर्विवाह का समर्थन, पुरुष द्वारा दूसरा विवाह करने पर स्त्रियों के लिए भी ऐसी ही स्वतंत्रता, सती प्रथा का कड़ा विरोध, संतान मोह व घरेलू हिंसा आदि पर सार्थक टिप्पणी के द्वारा लेखिका ने स्त्री समस्या के अनेक पहलू पर खुलकर विचार प्रस्तुत किए हैं। संपूर्ण स्त्री जाति को संबोधित होने के कारण यह पुस्तक स्त्री मुक्ति का प्रारंभिक विचार है।

"अपनी भूमिका में डॉक्टर धर्मवीर ने विचार व्यक्त किया है कि यह औरत अपने समय के कानून व व्यवहार से आगे बढ़ी हुई थी और अपने समय के प्रति प्रतिबद्ध थी। वह सिर्फ अपने समय की स्त्री की मुक्ति के लिए ही नहीं, वरन पूरी मानवता की मुक्ति के लिए लड़ी। अंतर्निहित रूप में इस अज्ञात लेखिका ने शूद्रों में स्त्रियों को भारतीय समाज का सर्वाधिक उत्पीड़ित अंग माना हैव उसने स्त्री को केवल स्त्री रूप में दिखाया है और उसके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र आदि में विभाजन का विरोध किया है। उसने हिंदू व मुस्लिम स्त्री के भेद का भी विरोध किया है। यह पुस्तक सामान्यता समाज में विशेषत: स्त्रियों में शिक्षा के प्रसार के उद्देश्य से लिखी गई थी, इसलिए इसके प्रथम संस्करण की तीन सौ प्रतियां पाठको में मुफ्त वितरित की गई थी। धर्मवीर के अनुसार यह पुस्तक भारत में स्त्री जागरण का महान दस्तावेज है और उसके अनुसार यह पुस्तक आज भी इतनी ही प्रासंगिक है, जितनी उन्नीसवी सदी में थी।"2

पितृसत्ता के दंश के बावजूद दलित आत्मकथाओं में स्त्री का दृढ़ आत्मविश्वास से पूर्ण तथा जीवट इच्छाशक्ति वाला रूप भी सहज ही देखा जा सकता है। इस दृष्टि से अधिकांश दलित आत्मकथाकारों द्वारा चित्रित मां के चरित्र की संघर्षशीलता, साहस और आत्मसम्मान उल्लेखनीय है। 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में 'श्योराज सिंह बेचैन' की मां का कठोर संघर्ष व अथक परिश्रम हो या 'संतृप्त' के लेखक सूरजपाल चौहान की माता की दरिद्रता से जंग के साथ ठाकुरों की कुदृष्टि से आत्मरक्षा का साहस या प्रोफेसर श्यामलाल की मां का कठोर परिश्रम, अधिकांश दलित लेखक मां के रूप में स्त्री के इस जुझारू पक्ष को उजागर करते हैं। उन्हें शिक्षित करने और समाज में मजबूत उपस्थिति बनाने में उनकी माताओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।' जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि माता का जूठी पत्तले उठते समय किया गया विरोध व आक्रोश हो या 'दोहराव अभिशाप' व' शिकंजे का दर्द' की लेखिकाओं की मां व नानी का विद्रोहपूर्ण जीवन संघर्ष' इन रचनाकारों के व्यक्तित्व निर्माण के पीछे इन संघर्षचेता, अथक जुझारू महिलाओं की अडिग दृढ़ता का योगदान रहा है। 'मुर्दहिया' में डॉक्टर तुलसीराम को उनके चेचक दाग, आंख और जातिभेद के कारण घोर अनादर, अपमान झेलना पड़ा, किंतु इस अथाह पीड़ा में मां और दादी का संबल सबसे महत्वपूर्ण रहा। इन सभी रचयिताओं की कृति में मां, नानी, दादी का दृढ़

व्यक्तित्व उनकी जागरूकता व आत्मसम्मान को सम्मुख लाता है। ये सभी स्त्रियां स्वतंत्रता, विद्रोही और निर्णय क्षमता की धनी थी। इन सभी पात्रों के बीच 'मेरा अतीत' के आत्मकथाकार संतराम आर्य की मां का साहस अद्‌भुत है।

यह स्पष्ट है कि दलित आत्मकथाएं स्त्री जीवन के उत्पीड़न और आक्रोश, शोषण और विद्रोह, क्रूरता और छटपटाहट को विविध कोणों से खुलकर सम्मुख लाती हैं। दलित लेखिकाओं द्वारा पितृसत्ता पर तीक्ष्ण प्रहार के साथ दलित जीवन, विवाह और परिवार संस्था के अंदरूनी हालात पर प्रकाश डाला गया है। दलित लेखन में स्त्री का यथार्थ किसी छद्म आवरण में छिपा न होकर अपनी समूची वास्तविकताओं के साथ प्रस्तुत है, इसलिए यहां स्त्री चरित्रों में विविधता है, एकरूपता नहीं। ना ही ये चरित्र किसी स्थापित सांचे में ढले हुई हैं। फिर भी मराठी आत्मकथाओं की तुलना में हिंदी में दलित लेखिकाओं की उपस्थिति नगण्य है, जो दर्शाती है कि दलित स्त्रियों का संघर्ष, पीड़ा और अन्य जमीनी सच्चाइयों का लेखन में आना अभी षेश है। दलित लेखन में अपनी न्यूनतम उपस्थिति के कारण भी दलित स्त्री की पारिवारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति उसे लैंगिक व जातिगत पहचान से इतर मनुष्य रूप में देखने का आग्रह करती है।

साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रित संबंध का उल्लेख सामान्य बात है, किंतु हिंदी साहित्य के इतिहास पर नजर डालने पर दिखाई देता है कि दलित लंबे समय तक यहां भक्ति, नीति, श्रृंगार, युद्ध और प्रकृति जैसे कुछ बहुप्रचलित विषय ही साहित्य के केंद्र में रहें। समाज की वास्तविक स्थिति की ओर दृष्टि डालने वाले सिद्ध,नाथों या कबीर, रैदास आदि को कवि की जगह संत कवि की उपाधि से नवाजा गया। हिंदी साहित्य में लंबे समय तक 'आम आदमी' विषय के केंद्र में नहीं था। जातिभेद के कारण उत्पन्न वास्तविक सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति का न्यूनतम उल्लेख हिंदी में दिखाई देता है, जबकि साहित्य में वर्णित पात्र और परिवेश के द्वारा पाठक समाज की पृष्ठभूमि में कार्यशील स्थितियों से परिचित होता है। "साहित्य केवल लेखन और पाठक के बीच ही सेतु की तरह विद्यमान नहीं रहता, अपितु लेखक और पाठक किन सामाजिक स्थितियों, परिस्थितियों में रह रहे हैं, यह भी पहचान कराता है। इतना ही नहीं; परिवेश गति यथार्थ को उकेरकर, साहित्य अपने समय की जटिलताओं को खोलता हुआ प्रस्तुत होता है। आर्थिक व्यवस्थाओं, सामाजिक संरचनाओं, सांस्कृतिक संस्थाओं और राजनीतिक केंद्रो के पारस्परिक संबंधों के संधानो को झेलते हुए मानव समूह की जिजीविषा, संघर्षीलता, स्वप्न और आकांक्षाओं की उद्यामता का चित्रण करना और बेहतर भविष्य की ओर बढ़ने के रास्तों की खोज करना साहित्य के गुणों के रूप में स्वीकार किए जाते हैं।"3

दलित चिंतन की यह शिकायत उचित है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा को ग्रहण करने वाले हिंदी साहित्य ने दलित जाति की पीड़ा को कभी शब्द नहीं दिए। इस अर्थ में लंबे समय तक समाज का कटु यथार्थ साहित्य में प्रकट होने से वंचित रहा।" यद्यपि साहित्य की सामाजिकता किसी वर्ग विशेष की सामाजिकता नहीं होती है, साहित्य को अखिल मानवता के हित में, उसके पक्ष में खड़ा होना चाहिए, किंतु कुछ अपवादों को छोड़कर इतिहास में शायद ही ऐसा कोई कल हो, जिसमें साहित्य सबके लिए लिखा गया हो। कभी राजा महाराजाओं और सत्ता- संपन्न सामंतों के लिए, तो कभी रसिक समाज के मनोरंजन के लिए, कभी युद्ध वर्णन और शौर्य, पराक्रम के प्रदर्शन के लिए, तो कभी सुरा- सुंदरी को महत्व देने के लिए साहित्य लिखा गया। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान लिखा गया राष्ट्रीय साहित्य और समाजवादी-मार्क्सवादी साहित्य इसके जीते-जागते उदाहरण हैं, किंतु साहित्य की मुक्ति चेतन ने देश को विदेशी हुकूमत से मुक्त तो कर दिया, यहां की बहुसंख्यक जनता को सामाजिक, सांस्कृतिक गुलामी से निजात नहीं दिला सकी। इन सबके बावजूद साहित्य जब सामाजिक सरोकारों से जुडा, तो वह जन-सामान्य और शोषितों- पीड़ितों के साथ खड़ा हो गया। दलित साहित्य भी कुछ

उसी तरह का साहित्य है।"4

अंबेडकर चिंतन से प्रभावित दलितों द्वारा जब स्वयं अपने अपमान, उत्पीड़न, अन्याय, असमानता को साहित्य में उकेरा गया, तब कहीं जाकर पाठक को दलितों की वास्तविक स्थिति का आभास हुआ, अन्यथा प्रेमचंद आदि कुछ लेखकों के अतिरिक्त दलितों के साथ हुए जातिभेद, अन्याय की सामान्यत: अनदेखी ही की गई। "भारतीय समाज व्यवस्था ने दलित और गैर- दलित के सामाजिक जीवन में जो फासला निर्मित किया है, उसके परिणामस्वरुप गैर- दलित, दलित जीवन और उनकी जिजीविषा की देग्धताओं से यदि अपरिचित है, तो यह आश्चर्यजनक नहीं, बल्कि इस व्यवस्था का ही परिणाम है। जब वे इस जीवन की सच्चाइयों को जानते ही नहीं तो उसे पर जो भी लिखेंगे, वह केवल बाह्य चित्रण होगा, जो सहानुभूति और करुणा से उपजा हुआ होगा, ना कि किसी बदलाव या संताप की आकांक्षा स।"5

यह आपत्ति अधिकांश दलित चिंतकों द्वारा दर्ज करायी गई है। इसी परिप्रेक्ष्य में दलित साहित्य सम्मुख आया और अस्सी के दशक में मराठी दलित से प्रेरणा ग्रहण करते हुए 'भगवानदास' की 'मैं भंगी हूं' के द्वारा दलित आत्मकथाओं का पदार्पण हुआ डॉक्टर तुलसीराम की 'मणिकर्णिका' तक आकर उसने अपनी मूलभूत सामाजिक समस्याओं यथा- अशिक्षा, अज्ञानता, अंधविश्वास, पिछड़ापन, जातिगत भेदभाव, ऊंच-नीच की भावना, अपमान, उत्पीड़न, अन्याय और असमानता को साहित्य के माध्यम से पाठक के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है।

जातिगत भेदभाव, अन्याय और असमानता सामाजिक और सांस्कृतिक बुराई है। धार्मिक सत्ता और आर्थिक व्यवस्था का भी इस सामाजिक संरचना के पीछे योगदान रहा है आज लगभग 25 से 30 वर्षों तक दलित साहित्य ने अपने संपूर्ण परिवेश, समस्याओं और उद्देश्य को उजागर कर दिया है, तब साहित्य की इस धारा की आवाज का केवल कलात्मक और सौंदर्यशास्त्री अध्ययन ही अपेक्षित नहीं है। साहित्य की यह शाखा अब अपने समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक और अर्थशास्त्रीय पहलू के सूक्ष्म अध्ययन की भी मांग करती है, किंतु इसके लिए सर्वप्रथम स्वयं समाज विज्ञान को साहित्य से दूरी समाप्त कर दलित आत्मकथाओं को केस स्टडी के रूप में ग्रहण कर अपने बंद दरवाजों को खोलना होगा, "यदि हम मानते हैं कि समाजशास्त्र का उद्देश्य शोषण और विषमताहीन समाज का निर्माण करना है और इसी के मद्देनजर वर्तमान समाज की आलोचना करना है; समाज में चल रही प्रक्रियाओं को समझना है ताकि परिवर्तन को अंजाम दिया जा सके; तो समाज को शोषण, उत्पीड़न और उससे उत्पन्न पीड़ा को समझने की क्षमता विकसित करनी होगी। इसके लिए समाज वैज्ञानिकों को तर्कसंगत दृष्टिकोण से विभिन्न ज्ञान परंपराओं को खंगालना तो होगा ही, लेकिन साथ ही एक संवेदनशील मनुष्य की तरह समझ में चल रही शोषण- प्रक्रियाओं को समझते हुए उनसे निरंतर संवाद स्थापित करना होगा।"6 दरअसल जाति- आधारित भारतीय सामाजिक संरचना अत्यधिक जटिल है। ब्राह्मणवाद के कई स्टार हैं। इसको समूचे परिप्रेक्ष्य में समझे बिना जाति, धर्म व लैंगिक भेदभाव से मुक्त मानवधर्मी समाज की कल्पना कठिन है। प्रतिरोध, स्वतंत्रता और समानता के स्वर को प्राथमिकता देती आत्मकथाएं एक नए मुक्त समाज की कल्पना की आकांक्षा करती हैं। इस उद्देश्य की प्राप्त हेतु इन आत्मकथाओं के प्रत्येक पक्ष का अध्ययन आवश्यक है। दलित आत्मकथान कला या सौंदर्यशास्त्र की स्थापना के लिए नहीं है, मनुष्य इसके केंद्र में प्रखरता पूर्वक उपस्थित हैं। इसी मनुष्य की मुक्ति हेतु उसके परिवेश को अतीत और वर्तमान के संदर्भों के साथ समझना जरूरी है। दलित आत्मकथाओं में ऐसे कई संदर्भ उपस्थित हैं। किसी भी दलित आत्मकथा को उठाकर देख लिया जाए, वहां सामाजिक अपमान, तिरस्कार, भेदभाव,

अन्याय, पिछड़ापन, अंधविश्वास, झड- फूंक, जादू- टोना, अशिक्षा, अज्ञानता आदि एक जैसी समस्याएं देखने को मिल जाएगी। उनकी सांस्कृतिक या धार्मिक आस्थाएं पाखंड, अंधविश्वास, भूत- प्रेत, दैविय शक्तियां अनेकानेक कुरीतियों की अवतार्किक वर्चस्व को दर्शाती हैं। इनके जीवन का अर्थशास्त्र भूख, गरीबी, रोग, बालश्रम, शोषण और बेकार के इर्द-गिर्द मंडरा रहा है। ऐसी विपरीत, कटु स्थितियों में भी प्रत्येक दलित लेखक के संघर्ष पर एक नजर भर डालने से ज्ञात होता है कि जो जिजीविषा, अदम्य साहस, जीवट, संघर्षशीलता, धैर्य इनके मनोविज्ञान को आकार देते हैं, वह दुर्लभ हैं। इन सब के पीछे कार्यरत नकारात्मक और सकारात्मक संदर्भों को समझना जरूरी है। यह शुभ लक्षण है की डॉक्टर तुलसीराम की 'मुर्दहिया' की ओर समाजशास्त्रियों का ध्यान गया 'मुर्दहिया' वस्तुतः आत्मकथात्मक शैली में रचित समाजशास्त्री विश्लेषण माना जा सकता है।..... भारतीय विश्वविद्यालयों में दलित समाज पर उपलब्ध ज्ञान की तुलना में मुर्दहिया की समझ ज्यादा विश्लेषणात्मक भी है और पूर्णता के लिए हुए भी हैं।... निष्कर्षित: ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि समाज को समझने, सामाजिक शक्ति संतुलन की आलोचना करने और व्यवस्था परिवर्तन की चेतना पैदा करने में मुर्दहिया एक हस्तक्षेप है।"7

दलित साहित्य संघर्षरत हैं। उस पर कच्चेपन, अनपढ़ता, भदेसपन, कलाहीनता व सौंदर्यशास्त्र सहित अनेकानेक आरोपों, प्रत्यारोपों का दौर जारी है। श्रेष्ठवादी, वर्चस्ववादी शक्तियों से संघर्षरत यह साहित्य कई बार स्वयं भी इन बुराइयों से ग्रस्त होता दिखता है। दलित अस्मिता की इस लड़ाई को कई मजबूत स्तंभ थामे हुए हैं । मानव जीवन के इस अन्यायग्रस्त पक्ष का सर्वांगीण अध्ययन अपेक्षित हैं, ताकि इस मूक, उपेक्षित दलित समाज, जिसका प्रतिनिधित्व यह दलित लेखन कर रहा है, अपनी समस्याओं से उबरकर समाज की गथित मुख्यधारा में आत्मसात हो सके।

निष्कर्षत: - उपर्युक्त दोनों पक्षों का अध्ययन करने से यह पता चलता है, कि एक तरफ जहां स्त्री लेखन मुख्य धारा में शामिल होने के लिए संघर्षरत है। तो वही दलित साहित्य पर अनेक प्रकार के आरोप लगाए जाते रहे हैं। जहां दलित स्त्री दोहरी संघर्ष का सामना कर रही है, वहीं दलित मुख्य धारा में सम्मिलित होने के लिए संघर्षरत है, लेकिन दलित महिला दोहरे उत्पीड़न का सामना कर रही है। इसलिए दलित महिला तथा दलित आत्मकथाओं का समाज वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर (2008), विमल थोरात, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा) लि., दिल्ली, पृष्ठ 15
2. दलित साहित्य : एक मूल्यांकन (2009), प्रो. चमनलाल, राजपाल एंड संस, दिल्ली,पृष्ठ 80-81 ।
3. दलित साहित्य के आधार तत्व (2011), हरपाल सिंह अरुष भारतीय पुस्तक परिषद, दिल्ली, पृष्ठ 120-121
4. दलित साहित्य का समाजशास्त्र (2009) हरिनारायण ठाकुर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृष्ठ 72
5. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र (2001), ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ 34
6. प्रतिमान, जनवरी- जून, (2013), ज्ञान की सामाजिक उपयोगिता और मुर्दहिया- मनेंद्रनाथ ठाकुर पृष्ठ 53
7. वही, पृष्ठ 70-71
8. हिंदी दलित आत्मकथाएं एक मूल्यांकन -पुनिता जैन